मान्यवर,

सादर जय जिनेन्द्र। इस पत्र के साथ 'जयधवला टीका' के संशोधन व प्रकाशन सम्बन्धी एक योजना भेज रहा हूं। साथ ही उक्त ग्रंथ के प्रारम्भ का कुछ भाग संशोधित करके संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद सहित छपाया है। यह प्रयत्न केवल उक्त ग्रंथ का परिचय देने के अभिप्राय से किया गया है। इसके तैयार करने में जो परिश्रम और समय लगा है उससे जब कई गुणा अधिक परिश्रम और समय लगाया जायगा तभी इस महत्वपूर्ण ग्रंथ का उत्तम सम्पादन हो सकेगा। प्रस्तुत अंश के आधार पर, हम इस ग्रंथ को अन्तिम रूप देने के सम्बन्ध में आपकी सलाह चाहते हैं। कृपया सूचित कीजिये कि सम्पादन शैली किस प्रकार और भी अच्छी और उपयोगी बनाई जा सकती है। इस महान् कार्य के सम्पादन में जो व्यावहारिक कठिनाइयां आपकी दृष्टि में आवें तथा उनको सुलभ बनाने के जो उपाय आप सोच सकें उनकी भी सूचना से अनुगृहीत कीजिये। आशा है इस कार्य में आप हमें अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान करेंगे। आप सरीखे विद्वानों के भरोसे ही इस कार्य को उठाने का साहस हुआ है। यदि आप इस योजना से सहमत हों तो अपनी सुविधानुसार यथावसर इसका प्रचार करने की कृपा करें।

भवदीय

हीरालाल जैन

जयधवला सिद्धान्त ग्रंथ का परिचय
और उसके उद्धार की योजना

हमें यह प्रकट करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि जिन के दर्शन के लिये सारा जैन समाज उत्सुक रहता था, जिनके उद्धार के लिये अनेक वर्षों से समाज अपनी खूब शक्ति और सम्पत्ति लगा रहा था, तथा जिनके स्वाध्याय के लिये विद्वत्-संसारअभिलाषापूर्ण था, उन्ही धवल जयधवल सिद्धान्त ग्रंथों का, काललब्धि के प्रभाव से, आज हमें पाठकों को परिचय देने तथा उनका स्वाध्याय सब को सुलभ बनाने में प्रयत्नशील होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जैन साहित्य के प्रेमियों को विदित ही है कि मूडविद्री के सरस्वती भंडार में धवला, जयधवला तथा महाधवला नाम के महान् सिद्धान्त ग्रंथ ताडपत्र के ऊपर कानडी लिपि में लिखे हुए बहुत काल से सुरक्षित हैं। इसके लिए हमारा समाज मूडविद्री के भट्टारकों का महान् उपकार मानता है। देश भरके जैनी दूर दूर से इनके दर्शन मात्र के लिये मूडविद्री की यात्रा करते हैं और दर्शन कर अपने को धन्य समझते हैं। इन ग्रंथों की अन्यत्र कहीं प्रतियां नही पाई जाती थीं, तथा मूडविद्री की प्राचीन प्रतियां जीर्ण होती जाती थीं। इससे समाज को इनकी रक्षा की बडी चिन्ता थी। अनेक वर्षों के लगातर परिश्रम से अब उक्त तीन ग्रंथों में से दो अर्थात् धवला और जयधवला की प्रतिलिपियां देखने को मिलती हैं। पर ये ग्रंथ विषय की दृष्टि से बड़े गहन हैं, उनकी भाषा प्राकृत होने से दुर्बोध है और जिस हस्तलिखित रूप में वे प्राप्त हैं उस रूप में उनका स्वाध्याय विद्वानो को भी बड़ा क्लिष्ट है, तथा प्रतियां भी दुर्लभ हैं। अतएव श्रुतज्ञान की रक्षा तथा इन ग्रंथों के पठन पाठन बढाने के अभिप्राय से इन ग्रंथों के संशोधन, सम्पादन व प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है। इस हेतु भेलसा निवासी श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचंद शितावरायजी ने ग्यारह हजार रुपयों का दान देकर अपनी लक्ष्मी सफल और अपनी कीर्ति चिरस्थायी करली है। आशा है अन्य सभी धनिक और विद्वान् इस पुण्य कार्य में योग देंगे। हमारा विचार इन सिद्धान्त ग्रंथों को पूर्ण संशोधन द्वारा स्वाध्याय के लिये अति सुलभ बना कर प्रकाशित कराने का है। हमारा विचार प्रथम जयधवला के संशोधन का है। इस हेतु हमारी जो स्कीम है उसको प्रकट करने से पूर्व पाठकों को हम इस महान् ग्रंथ का कुछ परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं।

जयधवला टीका की रचना का इतिहास

धवला और जयधवला दोनों ग्रंथों का स्थान जैन साहित्य में अद्वितीय है क्योंकि इनका सम्बन्ध सीधा महावीर भगवान् की द्वादशांग वाणी से है। महावीर स्वामी के उपदेश को उनके प्रमुख गणधर गौतम इन्द्रभूति ने बारह अंगों में रचा। बारहवें अंग का नाम दृष्टिवाद था। इस दृष्टिवाद के पांच भेद थे, जिनमें से चौथे भेद, पूर्वगत, के चौदह विभाग थे। अग्रायणी नामक दूसरे पूर्व के चौदह 'वस्तु' अर्थात् अधिकारों में से पांचवें वस्तु के महाकर्म नामक चतुर्थ पाहुड का श्री धरसेनाचार्य ने भूतवलि और पुष्पदन्त नामक शिष्यों द्वारा उद्धार कराया और इसी के ऊपर वीरसेनाचार्य द्वारा वह धवला टीका निर्माण हुई जो धवल के नाम से प्रसिद्ध है। पांचवें विभाग का नाम ज्ञानप्रवाद था जिसमें बारह 'वस्तु' (अध्याय), और प्रत्येक वस्तु में बीस बीस पाहुड थे। इसीके दशम वस्तु के तीसरे पाहुड का नाम 'पेज्ज' या 'पेज्जदोष' पाहुड था। इसी पेज्ज पाहुड से कषाय पाहुड की उत्पत्ति हुई। महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् एक सौ वर्ष में पांच श्रुतकेवली हुए जिन्हें समस्त द्वादशांग का ज्ञान था। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् यह श्रुतज्ञान लुप्त होने लगा। उनके पीछे १७३ वर्ष में ग्यारह आचार्य ऐसे हुए जिन्हे केवल ग्यारह अंग और दश पूर्वों का ज्ञान था। अन्तिम चार पूर्व लुप्त होगये थे। इसीसे ये आचार्य दशपूर्वी कहलाये। पूर्वों का ज्ञान बराबर लुप्त होता ही गया और दशपूर्वियों के पश्चात् २२० वर्ष में जो पांच आचार्य हुए उन्हे ग्यारह अंग तथा पूर्वों के किसी एक देश का ज्ञान था। इसके पश्चात् आचारांग को छोड़ शेष अंगों का विस्मरण होगया। ११८ वर्ष में जो चार आचार्य हुए उन्हे केवल प्रथम आचारांग मात्र का तथा पूर्वों के एकदेश का ज्ञान रहा। इसके पश्चात् आचारांग का भी लोप होगया और आचार्यों को केवल पूर्वों के किसी एक एक खंड मात्र का ज्ञान रह गया। इस प्रकार महावीर भगवान् के निर्वाण से ६११ वर्ष पश्चात् द्वादशांग का एक प्रकार से लोप होगया। बचे हुए एकदेश पूर्व-ज्ञाताओं की परम्परा में गुणधर आचार्य हुए जिन्होंने लुप्त होते हुए श्रुतज्ञान को बचाने की अभिलाषा से पेज्जपाहुड के सोलह हजार पदों को एकसौ अस्सी गाथाओं में संक्षिप्त कर के कसाय पाहुड की रचना की। ये कसाय पाहुड की सूत्र गाथाएँ आचार्य परम्परा से आर्यमंखु और नागहस्ती नामक दो आचार्यों को प्राप्त हुईं। इन्हीं दोनों से यतिवृषभाचार्य ने उन गाथाओं को सीखकर उनपर चूर्णि-सूत्र रचे। ये गाथासूत्र और चूर्णिसूत्र बहुत संक्षिप्त अतएव दुर्बोध थे, अतः इन पर आचार्य वीरसेन ने एक विस्तृत टीका लिखी जिसका नाम उन्होंने **जयधवलाटीका**

रखा । इसी कारण यह सिद्धान्त शास्त्र संक्षेप में जयधवल के नाम से प्रख्यात है। वीरसेन की बनाई हुई होने के कारण वह वीरसेनीया टीका भी कहलाती है। वीरसेन स्वामी इस टीका को पूरी न कर पाये। अतएव उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्य ने उसे शक ७५९ (विक्रम संवत् ८९५) में समाप्त की। यह इस जयधवल सिद्धान्त ग्रंथ का संक्षिप्त इतिहास है। दुर्भाग्यतः उपलब्ध जैन पट्टावलियों आदि से गाथासूत्रों के कर्ता गुणधराचार्य तथा चूर्णिसूत्र के कर्ता यतिवृषभाचार्य के समय का ठीक निर्णय नहीं होता। अतएव उनके समय के विषय में इतना ही कह सकते हैं कि वे वीर निर्वाण संवत् ६११ (विक्रम संवत् ५४) के पश्चात् और वि. सं. ८९५ से पूर्व किसी समय हुए होंगे। पर इतना तो निश्चित है कि गुणधराचार्य की गाथाओं में तीर्थंकर भगवान् की द्वादशांग वाणी का एक अंश सुरक्षित है।

उद्धार की योजना

द्वादशांग श्रुतज्ञान के लोप की कथा सुन कर किस विद्याप्रेमी व धर्मसेवी के हृदय को दुःख न पहुंचेगा? भले ही हम इसके लिये काल को दोष देवें, किन्तु इस साहित्य की भारी क्षति के लिये हमारा प्राचीन विद्वत्समाज जिम्मेदारी से बच नहीं सकता। तीर्थंकर के जिस उपदेश के ऊपर हमारा धर्म निर्माण हुआ है उसी उपदेश को हम मूल रूप में लेशमात्र भी रक्षित न रख सकें यह हमारा घोर प्रमाद, आलस्य, उदासीनता या मूर्खता नहीं तो और क्या है? इसका उदाहरण उपर्युक्त ग्रंथ ही है। उसकी रचना के लगभग दोसौ वर्ष पश्चात् उसका भाव लेकर नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार की रचना कर दी। तब से प्रायः मूलग्रंथ का पठन पाठन बन्द ही हो गया। उसकी प्रतिलिपियां भी कराना बन्द कर दिया। यह तो न जाने समाज के किस पुण्य का उदय था कि ग्रंथ की एक ही प्रति एक स्थान पर सैकड़ों वर्षों से सुरक्षित बनी रही। राजकीय परिवर्तनों और सामाजिक व धार्मिक विप्लवों के कारण समय समय हमारी संस्कृति और साहित्यपर न जाने कितने आक्रमण हुए जिनसे कितना साहित्य नष्ट हुआ! इस विषय में हमारी अकर्मण्यता को देखते हुए तो आश्चर्य इसी बात का होता है कि ये ग्रंथ भी अबतक किस प्रकार बचे रहे। धार्मिक संस्कृति और साहित्य के लिये वर्तमान समय और भी बड़े संकट का है, क्योंकि इस समय लोगों की रुचि और श्रद्धा इन विषयों से उड़ रही है। ऐसे समय पर विवेकवानों को उचित है कि अपनी बची खुची साहित्यिक सम्पत्ति को सम्हालें और उससे लाभ लें। इसी उदासीनता और मूल साहित्य की ओर असाव-

धानी का फल यह हुआ है कि हमारा प्राचीन साहित्य प्राकृत में होते हुए भी प्राकृत भाषा का ज्ञान हमारी समाज से एक तरह उठही गया है। हमारे शास्त्री लोग उस ओर प्राय: ध्यान ही नहीं देते और हमारे विद्यालयों में इसके पढ़ाने का कहीं कोई प्रबन्ध नहीं है। अत एव उक्त सिद्धान्त ग्रंथों का सुचारु रूपसे उद्धार होना अत्यन्त आवश्यक है। उनका विषय जैन धर्म का प्रमुख विषय कर्मसिद्धान्त है और उनकी भाषा प्राकृत है, तथा उनका सम्बंध सीधा द्वादशांग श्रुतज्ञानसे है।

बहुत कुछ सोच विचार कर हमने, समाज के धनिकों और विद्वानों की सच्ची सहायता और सहानुभूति के बल पर, उक्त साहित्य के उद्धार का विचार किया है जिस हेतु श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचंदजीने ग्यारह हजार के दान का ट्रस्ट रजिस्ट्री करा दिया है। ये ग्रंथ बहुत विस्तीर्ण हैं, उनका विषय भी गहन है, भाषा भी क्लिष्ट है और संशोधन के लिये प्राचीन प्रतियां भी उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी अवस्था में इनका संशोधन करना बड़ी ही कठिनाई का काम है। उसके लिये विपुल परिश्रम, अधिक समय और बहुत धन की आवश्यकता है। हमने प्रारंभ मे गुणधर आचार्य के कषाय प्राभृत को यतिवृषभाचार्य के चूर्णि सूत्र व वीरसेनाचार्य की जयधवलाटीका सहित संशोधित कर संस्कृत रूपान्तर और हिन्दी भाषा अनुवाद सहित प्रकट करने का विचार किया है जिसका कुछ प्रारम्भिक अंश यहां नमूने के बतौर प्रस्तुत किया जाता है। अकेली जयधवला टीका का विस्तार साठ हजार श्लोक प्रमाण है। संस्कृत-हिन्दी रूपान्तर तथा कुछ टिप्पणी सहित वह लगभग इससे चौगुना रूप धारण कर लेगी। इसके लिये विशाल आयोजन की आवश्यकता है और वह तभी सुचारु रूपसे किया जा सकता है जब समस्त समाज या समाज के अधिकांश भाग का उसमें साहाय्य और सहयोग हो। कुछ विद्वानों की यह भी राय है कि समय और शक्ति की बचत के लिये केवल मात्र मूल प्राकृत ही शुद्ध करके प्रकाशित कर दी जाय तथा कुछ की राय है कि संस्कृत रूपान्तर की आवश्यकता नहीं, मूल प्राकृत, हिन्दी अनुवाद सहित प्रकट किया जाय। मुझे स्वयं अपनी शक्ति और समय की संकीर्णता का बड़ा ख्याल है और इसलिये मैं उनमें हर प्रकार से बचत चाहता हूं, किन्तु साथ ही मेरी यह प्रबल अभिलाषा है कि इन ग्रंथों को इस रूप में जनता के सन्मुख रखें कि सभी उनसे लाभ ले सकें। इतने बड़े ग्रंथों के सम्पादनादि की व्यवस्था बार बार तो होना कठिन है इससे प्रथम बार ही जितना हो सके उतना इन्हे सुगम बना कर प्रकट किया जाय। मै इस सम्बंध में विद्वानों की विचार पूर्वक राय चाहता हूं। हमारा विचार ग्रंथ को लगभग सौ सौ पृष्ठ के खंडों में प्रकट करने का है जो निय-

मित रूप से दूसरे या तीसरे माह निकाला जा सके । इससे प्रकाशन में भी सुविधा रहेगी और पाठकों को स्वाध्याय में भी सुलभता होगी। सभी हितैषियों को इसके अभी से ग्राहक बन जाना चाहिये और जितनी प्रतियां हो सकें खरीदना चाहिये । यदि ग्राहक अधिक संख्या में हो गये तो प्रति संख्या का मूल्य भी कम (रुप्या, डेढ रुप्या) रखा जा सकेगा ! जिन्हे श्रुतज्ञान के उद्धार में विशेष भाग लेकर अपने ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करने की अभिलाषा हो उन्हे इस कार्य के लिये एक मुश्त दान भी देना चाहिये । यदि उपर्युक्त शैली से सम्पादन हुआ तो मुझे कई विद्वानों के साहाय्य की आवश्यकता होगी। इस प्रकार सम्पादन और प्रकाशन कार्य में दस हजार से कई गुणा अधिक द्रव्य समाज को इस कार्य में खर्च करना पड़ेगा। इससे साहाय्य के लिये तैयार होकर हमें भरोसा दिलाइये । तभी इस कार्य को हम विश्वासपूर्वक हाथ में लेकर आगे बढा सकेंगे । मुझे आशा है कि जिनवाणी-भक्त कोई भी सज्जन इस पुण्य कार्य में बाधा उपस्थित करने का प्रयत्न न करेंगे ।

इस अपील को पूर्ण करते समय मेरा हृदय उत्सुक हो रहा है । कार्य की विशालता तथा अपने हीन ज्ञान और शक्ति का मुझे पूरा ध्यान है । इच्छा होते भी इस कार्य में अपना पूरा समय और योग लगाने की भी सुविधा मुझे उपलब्ध नही है । ऐसी अवस्था में कहा नही जा सकता कि यह महान् कार्य कब, किस प्रकार और किसके हाथ से पूर्ण होगा । मै केवल केवली भगवान् का स्मरण करके अपने आत्मा में ज्ञान और बल का आह्वान कर रहा हूं और सब सज्जनों से प्रार्थना है कि वे भी इस शुभ कार्य के सुचारु रूपसे सम्पादित होने में अपना उपयोग लगावें । यदि भविष्य अनुकूल रहा और समाज का साहाय्य मिला तो कार्य पूर्ण होना असम्भव नही है । अपनी सहायता और सहानुभूति का निश्चय करके आज ही मुझे पत्रद्वारा सूचित करें ।

अमरावती
किंग एडवर्ड कॉलेज,
ता ३१-१०-३४

विनीत,
हीरालाल जैन

श्री

गुणधराचार्योपदिष्ट-कषायप्राभृतस्य यतिवृषभाचार्यकृत-चूर्णिसूत्रस्य च

जयधवला टीका

वीरसेन-विरचिता

जयइ धवलंग-तेयेणाऊरिय-सयल-भुवण-भवण-गणो[1]
केवल-णाण-सरीरो अणंजणो णामओ चंदो ॥ १ ॥

तित्थयरा चउवीस वि केवलणाणेण दिट्ठ-सव्वट्ठा ।
पसियंतु सिवसरूवा तिहुवण-सिर-सेहरा मज्झं ॥ २ ॥

सो जयइ जस्स केवल-णाणुज्जल-दप्पणम्मि लोयालोयं ।
पुढ पदिबिंबं दीसइ वियसिय-सयवत्त-गब्भ-गउरो वीरो ॥ ३ ॥

जयति धवलाङ्गतेजसापूरित सकल-भुवन-भवन-गणः ।
केवल ज्ञान-शरीरोऽनञ्जनो नामकश्चन्द्रः ॥ १ ॥

तीर्थकराश्चतुर्विंशतिरपि केवल-ज्ञानेन दृष्टसर्वार्थाः ।
प्रसीदन्तु शिवस्वरूपास्त्रिभुवनशिरःशेखरा मह्यम् ॥ २ ॥

सो जयति यस्य केवल-ज्ञानोज्वल-दर्पणे लोकालोकम् ।
पृथक् प्रतिबिम्बं दृश्यते विकसित-शतपत्र-गर्भ-गौरो वीरः ॥ ३ ॥

जिसने अपने धवल अंग के तेज से सकल भुवन रूपी भवनों के समूह को परिपूरित कर दिया है उस केवलज्ञान रूपी शरीर के धारक अनञ्जन नामक चंद्र की जय है ॥ १ ॥

और जिन्होंने केवलज्ञान द्वारा सब पदार्थों को देख लिया है, जो शिवस्वरूप और त्रिभुवन के शिर के शेखर हैं, वे चौबीस तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न होवें ॥ २ ॥

जिनके केवलज्ञान रूपी उज्वल दर्पण में लोकालोक पृथक् पृथक् प्रतिबिम्बित होते हैं, उन फूले हुए कमल के अंतरंग समान, गौर वर्ण, वीर भगवान की जय है ॥ ३ ॥

---

१ आदर्श प्रति में 'भमण' पाठ है ।

अंगंग-बज्झणिम्मि अणाइ-मज्झंत-णिम्मलंगाए ।
सुय-देवय-अंबाए णमो सया चक्खुमइयाए ॥ ४ ॥

णमह गुण-रयण-भरियं सुअणाणामिय-जलोह-गहिरमपारं ।
गणहर-देव महोवहिमणेय णय-भंग-भंगि तुंग तरंगं ॥ ५ ॥

जेणिह कसाय-पाहुडमणेय णयमुज्जलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरियं तं गुणहर-भि भडारयं वंदे ॥ ६ ॥

गुणहर-वयण-विणिग्गय गाहाणत्थोवहारिओ सव्वो ।
जेणज्जमंखुणा सो स णागहत्थी वरं देऊ ॥ ७ ॥

अङ्गाङ्गबाह्ये अनादि-मध्यान्त-निर्मलाङ्ग्यै
श्रुत-देवताम्बायै नमः सदा चक्षुमय्यै ॥ ४ ॥

नमत गुण रत्न-भरितं श्रुत-ज्ञानामृत-जलौघ-गम्भीरमपारम् ।
गणधर-देव-महोदधिमनेक-नय-भंग-भंगि तुंग-तुरंगम ॥ ५ ॥

येनेह कषायप्राभृतमनेकनयमुज्वलमनन्तार्थम् ।
गाथाभिर्विवृतं तं गुणधर-विमपि भट्टारकं वन्दे ॥ ६ ॥

गुणधर-वदन-विनिर्गत-गाथानामर्थोऽवहारितः सर्वः ।
यथार्यमंक्षुनाऽसौ स नागहस्ती वरं ददातु ॥ ७ ॥

जो अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप मे आदि, अंत और मध्य रहित, निर्मलांगी है उस सदा चक्षुष्मती श्रुतदेवी रूपी अम्बा को नमस्कार है ।

जो गुण रूपी रत्नोंसे भरे हैं, श्रुतज्ञान रूपी अमृतजल के समूहसे गम्भीर और अपार हैं, तथा अनेक-नय-भंग भंगि रूपी बड़ी बड़ी तरंगों से युक्त है, ऐसे गणधर देव रूपी महोदधि को नमस्कार करो ॥ ५ ॥

जिन्होने अनेक नयों से युक्त, उज्वल, अनन्तार्थ, कषाय-प्राभृत का गाथाओंमें विवरण किया है उन गुणधर भट्टारक की भी मैं वन्दना करता हूं ॥ ६ ॥

जिन्होने, आर्यमंक्षु के समान, गुणधर के मुखसे निकली हुई गाथाओं का सब अर्थ ले लिया है, वे नागहस्ती मुझे वरदान देवें ॥ ७ ॥

जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्ति-सुत्त-कत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥ ८ ॥

णाणप्पवादामल-दसम-वत्थु-तदिय कसाय-पाहुड-वहि-जल-णिवह-पक्खालिय-मयि-णाण-लोयण-कलाव-पच्चक्खीकय-तिहुवणेण तिहुवण-परिपालएण गुणहर-भडारएण गाहासुत्ताणमादीये जयिवसहत्थेरेण वि चुण्णि-सुत्तस्य आदीए मंगलं किण्ण कयं ? ण एस दोसो । मंगलं हि कीरदे पारद्ध-कज्ज-विग्घयर-कम्म विणासणट्ठं । तं च परमागमुवजोगादो चेव णस्सदि । ण चेदमसिद्धं । सुह सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो । उत्तं च-

य आर्यमंक्षुशिष्योऽन्तेवास्यपि नागहस्तिनः ।
स वृत्तिसूत्रकर्ता यतिवृषभो मे वरं ददातु ॥ ८ ॥

ज्ञानप्रवादामल दशम-वस्तु तृतीय कषायप्राभृतोदधि-जल-निवह-प्रक्षालित-मतिज्ञान-लोचन-कलाप-प्रत्यक्षीकृत-त्रिभुवनेन त्रिभुवन-परिपालकेन गुणधर-भट्टारकेन गाथासूत्राणामादौ यतिवृषभ-स्थविरेणापि चूर्णिसूत्रस्यादौ मंगलं किं न कृतं ? नैष दोषः । मंगलं हि क्रियते प्रारब्ध-कार्य-विघ्नकर-कर्म-विनाशनार्थम् । तच्च परमागमोपयोगादेव नश्यति । न चेदमसिद्धम् । शुभ-शुद्ध-परिणामैः कर्म-क्षयाभावे तत्क्षयानुपपत्तेः । उक्तं च-

जो आर्यमंक्षु के शिष्य तथा नागहस्ती के अन्तेवासी थे वे वृत्ति-सूत्र के कर्ता यतिवृषभ मुझे वरदान देवें ॥ ८ ॥

ज्ञानप्रवाद की शुद्ध दशम वस्तु के तृतीय कषायप्राभृत रूपी उदधि के जलप्रवाह से प्रक्षालित मतिज्ञान रूपी लोचनसमूह से जिन्होने त्रिभुवन को प्रत्यक्ष कर लिया है, और जो त्रिभुवन के परिपालक हैं, ऐसे गुणधर भट्टारक ने गाथासूत्रों के आदि में, तथा यतिवृषभ स्थविर नेभी चूर्णिसूत्र के आदि में मंगल क्यों नही किया ? यह कोई दोष नही है । मंगल तो प्रारम्भ कार्य में विघ्न करनेवाले कर्म के विनाश के लिये किया जाता है । सो वह परमागम (उत्तम शास्त्र) में उपयोग से ही नष्ट हो जाता है । यह कोई असिद्ध बात नही है । शुभ और शुद्ध परिणामों से यदि कर्मोंका क्षय न होगा तो उनका क्षय कभी होगाही नही । कहा भी है-

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा ।
भावो दु पारिणमिओ करणोभयवज्जिओ होई ॥ १ ॥

ण च कम्मक्खये संते पारद्ध-कज्ज-विग्घस्स विज्जाफलाणुववत्तीए वा संभवो विरोहादो । ण च सद्दाणुसारि-सिस्साणं देवदा-विसय-भत्ति-समुप्पायणट्ठं तं कीरदे तेण विणा वि परूवणादो चेव तेसिं तदुप्पत्तिदंसणादो । ण च पमाणाणुसारि-सिस्साणं तदुप्पायणट्ठं कीरदे, जुत्तिविरहिय-गुरुवयणादो पयट्टमाणस्स पमाणाणुसारित्त-विरोहादो । ण च भत्तिमंतेसु भत्ति-समुप्पायण संभवदि णिप्पण्णस्स णिप्पत्ति-विरोहादो ।

औदयिका बंधकरा उपशम-क्षय-मिश्रकाश्च मोक्षकराः ।
भावस्तु पारिणामिकः करणोभयवर्जितो भवति ॥ १ ॥

न च कर्मक्षये सति प्रारब्धकार्य-विघ्नस्य विद्याफलानुपपत्त्या वा संभवो विरोधात् । न च शब्दानुसारि-शिष्याणां देवता-विषय-भक्ति-समुत्पादनार्थं तत्क्रियते, तेन विनापि प्ररूपणाच्चैव तेषां तदुत्पत्तिदर्शनात् । न च प्रमाणानुसारि-शिष्याणां तदुत्पादनार्थं क्रियते युक्ति-विरहित-गुरु-वचनात्प्रवर्तमानस्य प्रमाणानु-सारित्व-विरोधात् । न च भक्तिमत्सु भक्ति-समुत्पादनं संभवति निष्पन्नस्य निष्पत्ति-विरोधात् ।

औदयिक भाव बंध के कारण है, उपशम, क्षय, और मिश्र, मोक्ष के कारण हैं, तथा पारिणामिक भाव दोनों कारणों से रहित है । और कर्मक्षय हो जाने पर प्रारम्भ किये हुए कार्य में विघ्न या विद्याफल की अनुत्पत्ति की सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि यह तो विरोध हो जायगा । और न शब्दानुसारी शिष्यों की देवता-विषयक भक्ति उत्पन्न करने के लिये मंगल किया जाता, क्योंकि विना मंगल किये भी प्ररूपणमात्र से ही उनमें वह उत्पन्न होती हुई देखी जाती है । और न प्रमाणानुसारी शिष्यों में उसे उत्पन्न करने के लिये मंगल किया जाता है, क्योंकि युक्ति से रहित गुरु के वचनमात्र से प्रवृत्त होनेवाले के प्रमाणानुसारी होने में विरोध पड़ जायगा । और भक्तिवानों में भक्ति उत्पन्न होने की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि निष्पन्नकी निष्पत्ति विरोधात्मक है ।

ण च सिस्सेसु सम्मत्तत्थित्तमसिद्धं अहेदु-दिट्ठिवाद-सुणणस्सण्णहाणुववत्तीदो तेसिं तदत्थित्तासिद्धीदो । ण च लाह-पूजा-सक्कारे पडुच्च सुणण-किरियाए वावदसिस्सेहि वियहिचारो, सम्मत्तेण विना सुणंताणं दव्वसवणं मोत्तूण भाव-सवणाभावादो। ण च दव्वसवणे एत्थ पओजणमत्थि, तत्तो अप्पाण-णिराकरणदुवारेण कम्मक्खय-णिमित्त सण्णाणुप्पत्तीए अभावादो । तदो एवंविह-सुद्धणयाहिप्पायेण गुणहर-जयिवसहेहि ण मंगलं कदं त्ति दट्ठव्वं । ववहारणयं पडुच्च पुण गोदमसामिणा चउवीसण्हमणियोगद्दाराणमादीए मंगलं कदं ण च ववहारणओ पंच्वलओ ।

न च शिष्येषु सम्यक्त्वास्तित्वमसिद्धमहेतु-दृष्टिवाद-श्रवणस्यान्यथानुपपत्तितः तेषां तदस्तित्वसिद्धेः । न च लाभ-पूजा-सत्कारे प्रतीत्य श्रवण-क्रियायां व्यापृतशिष्यैर्व्यभिचारः सम्यक्त्वेन विना श्रृण्वतां द्रव्यश्रवणं मुक्त्वा भाव-श्रवणाभावात् । न च द्रव्यश्रवणेऽत्र प्रयोजनमस्ति, तत आत्म-निराकरणद्वारेण कर्मक्षयनिमित्तसद्ज्ञानोत्पत्तेरभावात् । तत एवंविध-शुद्धनयाभिप्रायेण गुणधर-यतिवृषभाभ्यां न मंगलं कृतमिति द्रष्टव्यम् । व्यवहारनयं प्रतीत्य पुनः गौतमस्वामिना चतुर्विंशतेरनुयोगद्वाराणामादौ मंगलं कृतं, न च व्यवहारनयः प्रबलः ।

और शिष्यों में सम्यक्त्व का अस्तित्व भी असिद्ध नहीं है क्योंकि इसके विना हेतु रहित दृष्टिवाद के श्रवण की उपपत्ति नहीं हो सकती, और इसलिये उनमें भक्ति का अस्तित्व सिद्ध है । और न लाभ, पूजा वं सत्कार की प्रतीति से श्रवण क्रिया में संलग्न शिष्यों का यहां व्यभिचार है क्योंकि सम्यक्त्व के विना सुननेवालों में द्रव्य श्रवण को छोड़कर भाव श्रवण का अभाव होगा । और न द्रव्यश्रवण से यहां प्रयोजन है, क्योंकि उससे आत्म के निराकरण द्वारा कर्मक्षय के निमित्तभूत सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अतः इस प्रकार शुद्ध नय के अभिप्राय से गुणधर और यतिवृषभ आचार्य ने मंगल नहीं किया, ऐसा समझना चाहिये । व्यवहार नय की अपेक्षासेही गौतम स्वामी ने चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया है, तथापि व्यवहार नय प्रबल नहीं है ।

---

१ आदर्श प्रति में 'वदं' पाठ है । २ आदर्श प्रतिमें 'चप्पलओ' पाठ है ।

तत्तो सेसाण पउत्तिदंसणादो जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं। पुण्ण-कम्म-बंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं ण मुणीणं कम्मक्खय-कंक्खुगाणमिदि ण वोत्तुं जुत्तं पुण्ण-बंधहेउत्तं पडि विसेसाभावादो मंगलस्सेव सराग-संजमस्स विपरिच्चागप्पसंगादो।

ण च संजम प्पसंग-भावेण णिव्वुइ-गमणाभाव-प्पसंगादो सराग-संजमो गुण-सेडि णिज्जराए कारणं तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्ज-गुणो त्ति सराग-संजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पच्चवट्ठाणं कायव्वं। अरहंत-णमो-कारो संपहियबंधादो असंखेज्ज-गुण-कम्म-क्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं

ततः शेषाणां प्रवृत्तिदर्शनाद् यो बहुजीवानुग्रहकारी व्यवहारनयः स चैव समाश्रितव्य इति मनसावधार्य गौतम-स्थविरेण मंगलं तत्र कृतम्। पुण्य-कर्म-बंधार्थिनां देशव्रतीनां मंगलकरणं युक्तं, न मुनीनां कर्मक्षयकांक्षिणामिति न वक्तुं युक्तं पुण्य-बंध-हेतुत्वं प्रति विशेषाभावाद् मंगलस्यैव सराग-संयमस्य विपरित्याग-प्रसंगात्।

न च संयम-प्रसङ्ग-भावेन निवृति-गमनाभाव-प्रसङ्गात् सराग-संयमो गुणश्रेणी-निर्जरायाः कारणं, तेन बंधाद् मोक्षोऽसंख्येयगुण इति सराग-संयमे मुनीनां वर्तनं युक्तमिति न प्रत्यवस्थानं कर्तव्यम्। अर्हन्नमस्कारः साम्प्रतिकबंधाद्-संख्येय-गुण-कर्म-क्षय-कारक इति तत्रापि मुनीनां—

इनसे जो शेष (इतर) है उनकी प्रवृत्ति को देखकर, जो बहुत जीवों का अनुग्रह करनेवाला व्यवहार नय है उसका आश्रय लेना चाहिये, ऐसा मन में विचार कर गौतम स्थविर ने वहां मंगल किया। 'जो पुण्य कर्मबंध के अभिलाषी देशव्रती (श्रावक) हैं उन्हें मंगल करना उचित है, कर्मक्षय की आकांक्षा रखनेवाले गुणी (मुनियों) को नहीं' ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि पुण्यबंध के हेतुत्व के प्रति उन्हे कोई विशेष भाव नहीं है, तथा इससे तो जो मंगल सरागसंयम है उसकेही सर्वथा त्याग का प्रसङ्ग आयगा।

और संयमप्रसंग के भाव में निर्वाणगमन के अभाव का प्रसंग नहीं हो सकता। सरागसंयम गुणश्रेणी-निर्जरा का कारण है और बंध से मोक्ष असंख्येय गुणा (अधिक उत्तम) है, इसीसे सराग संयम में मुनिओं का वर्तना योग्य है। अतः (मंगळ का) प्रत्यवस्थान अर्थात् निराकरण नहीं करना चाहिये। अरहंत का नमस्कार साम्प्रातिक बंधसे असंख्येय गुणा कर्मक्षयकारक है इससे उसमें भी मुनियों की

पवुत्ति-प्पसंगादो । उत्तं च—

> अरहंतणमोकारं भावेण य जो करेदि पयडमदी
> सो सव्वदुःखमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥ २ ॥

तेण सोवण भोयण पयाण पच्चावण-सत्थ-पारंभादि-किरियासु णियमेण अरहंतणमोकारो कायव्वो त्ति सिद्धं ।

ववहारणयमस्सिदूण गुणहर-भडारयस्स पुण एसो अहिप्पाओ, जहा, कीरउ अण्णत्थ सव्वत्थ णियमेण अरहंत-णमोकारो मंगल-फलस्स पारद्ध-किरियाए अणुवलंभादो । एत्थ पुण णियमो णत्थि । परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलंभादो ।

प्रवृत्ति-प्रसंगात् । उक्तं च-

> अर्हन्नमस्कारं भावेन च यः करोति प्रकटमतिः ।
> स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ २ ॥

तेन स्वपन-भोजन-प्रयाण-प्रत्यापन-शास्त्र-प्रारम्भादि-क्रियासु नियमेन अर्हन्नमस्कारः कर्तव्य इति सिद्धम् ।

व्यवहारनयमाश्रित्य गुणधरभट्टारकस्य पुन एष अभिप्रायो, यथा, क्रियतामन्यत्र सर्वत्र नियमेन अर्हन्नमस्कारो मङ्गलफलस्य प्रारब्धक्रियायामनुपलम्भात् । अत्र पुनर्नियमो नास्ति । परमागमोपयोगे नियमेन मङ्गलफलोपलम्भात् ।

प्रवृत्ति का प्रसंग आता है । कहा भी है--जो प्रकटमति भावसहित अरहंत को नमस्कार करता है वह थोड़े काल में ही सब दुःखोंसे मोक्ष पा लेताहै । इसलिये शयन, भोजन, प्रयाण, प्रत्यापन और शास्त्रप्रारंभादि क्रियाओं में नियम से अरहंत को नमस्कार करना चाहिये, यह सिद्ध हुआ ।

व्यवहार नय का आश्रय लेकर गुणधर भट्टारक का यह अभिप्राय है कि अन्यत्र सब कहीं नियम से अरहंत का नमस्कार भले ही करे, क्योंकि उसके बिना प्रारम्भ की हुई क्रिया में मंगलफल की प्राप्ति नहीं होती । किन्तु यहां इसका कोई नियम नहीं है, क्योंकि परमागम के उपयोग में नियम से मंगलफल की प्राप्ति होतीही है ।

एदस्स अत्थविसेसस्स जाणावणट्ठं गुणहर-भडारएण गंथस्सादीए ण मंगलं कयं।

संपहि एदस्स गंथस्स संबंधादि-परूवणट्ठं गाहासुत्तमागयं—

पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिये।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥ १ ॥

संपहि एदिस्से गाहाए अत्थो वुच्चदे। तं जहा। अत्थि पुव्वसद्दो दिसावाचओ जहा पुव्वं गामं गदो त्ति। तहा कारणवाचओ वि अत्थि मइपुव्वं सुदमिदि। तहा सत्थवाचओ वि अत्थि जहा चोद्दसपुव्वहरो भद्दबाहु त्ति। पयरण-वसेण एत्थ सत्थवाचओ घेत्तव्वो। पुव्वम्मि त्ति वयणेण

एतस्यार्थविशेषस्य ज्ञापनार्थं गुणधरभट्टारकेन ग्रन्थस्यादौ न मङ्गलं कृतम्। सम्प्रत्येतस्य ग्रन्थस्य सम्बन्धादि-प्ररूपणार्थं गाथासूत्रमागतं—

पूर्वे पञ्चमे तु दशमे वस्तुनि प्राभृते तृतीये।
पेज्जमिति प्राभृते तु भवति कषायाणां प्राभृतं नाम ॥ २ ॥

सम्प्रत्येतस्या गाथाया अर्थ उच्यते। तद्यथा—अस्ति पूर्वशब्दो दिशावाचको, यथा, पूर्वं ग्रामं गत इति। तथा कारणवाचकोऽप्यस्ति, मतिपूर्वं श्रुतमिति। तथा शास्त्रवाचकोऽप्यस्ति, यथा चतुर्दश-पूर्वधरो भद्रबाहुरिति। प्रकरणवशेनात्र शास्त्रवाचको गृहीतव्यः। पूर्वेतिवचनेनाचाराद्यधस्तमेकादशानामंगानां

इसी अर्थविशेष का ज्ञान कराने के लिये गुणधर भट्टारक ने ग्रंथ के आदि में मंगल नहीं किया।

अब इस ग्रंथ का सम्बंधादि बताने के लिये गाथासूत्र कहते है—

पंचम पूर्व के दशम वस्तु के 'पेज' पाहुड नामक तृतीय पाहुड में कषाय पाहुड होता है।

अब इस गाथा का अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है—पूर्व शब्द दिशा वाचक है, जैसे वह पूर्व ग्राम को गया है। उसी प्रकार वह कारण-वाचक भी है, जैसे मतिपूर्व श्रुतज्ञान। तथा वह शास्त्रवाचक भी है, जैसे चतुर्दशपूर्वधारी भद्रबाहु। प्रकरण के अनुसार यहां शास्त्रवाचक अर्थ ही लेना चाहिये। 'पूर्व में' इस बचन द्वारा आचारादि नीचे के ग्यारह अंगों का और दृष्टिवाद के अवयवभूत

आचारादि-हेट्ठिम-एकारसण्हमंगाणं दिट्ठिवाद-अवयवभूद-परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-चूलियाण च पडिसेहो कदो तत्थ पुव्व-ववएसाभावादो। हेट्ठिम-उवरिम-पुव्व-णिराकरण दुवारेण णाणप्पवाद-पुव्वग्गहणट्ठं पंचमम्मि त्ति णिद्देसो कदो। वत्थु-सद्दो जदिवि अणेगेसु अत्थेसु वट्टदे तो वि पयरण-वसेण सत्थ-वाचओ घेत्तव्वो। हेट्ठिम-उवरिम-वत्थुणिसेहट्ठं दसमग्गहणं कदं। तत्थ-तण-वीसे-पाहुडेसु सेस-पाहुड-णिवारणट्ठं तदिय-पाहुडग्गहणं कदं। तं तदिय-पाहुडं किण्णाममिदि वुत्ते पेज्ज-पाहुडं ति तण्णामं भणिदं।

तत्थ एदं कसाय-पाहुडं होदि त्ति वुत्ते तत्थ उप्पण्णमिदि घेत्तव्वं। कथमेकस्मिन्नुत्पाद्योत्पादकभावो नोपसंहार्यादुपसंहारस्य कथंचिद्भेदोपलं-

---

दृष्टिवादावयव-भूत-परिकर्म-सूत्र-प्रथमानुयोग-चूलिकानां च प्रतिषेधः कृतः, तत्र पूर्वव्यपदेशाभावात्। अधस्तमोपरिम-पूर्व-निराकरण-द्वारेण ज्ञानप्रवाद-पूर्व-ग्रहणार्थं 'पंचमे' इति निर्देशः कृतः। वस्तु-शब्दो यद्यप्यनेकेष्वर्थेषु वर्तते तथापि प्रकरणवशेन शास्त्रवाचको गृहीतव्यः। अधस्तमोपरिम-वस्तुनिषेधार्थं दशम-ग्रहणं कृतम्। तत्रतन-विंशतिप्राभृतेषु शेष-प्राभृत-निवारणार्थं तृतीय-प्राभृत-ग्रहणं कृतम्। तत् तृतीय-प्राभृतं किन्नामेत्युक्ते पेज्ज-प्राभृतमिति तन्नाम भणितम्।

तत्रैतत्कषाय-प्राभृतं भवतीत्युक्ते तत्रोत्पन्नमिति गृहीतव्यम्। कथमेकस्मिन्नुत्पाद्योत्पादकभावो, नोपसंहार्यादुपसंहारस्य कथंचिद्भेदोपलंभतस्तयोरेकत्वा-

---

परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, और चूलिका, इनका प्रतिषेध किया, क्योंकि उनको 'पूर्व' यह नाम नहीं दिया जाता। नीचे के और ऊपर के पूर्वों के निराकरण द्वारा ज्ञानप्रवाद पूर्व के ग्रहणार्थ 'पांचवे में' ऐसा निर्देश किया है। वस्तुशब्द यद्यपि अनेक अर्थों में आता है तो भी प्रकरण के अनुसार यहां उसे शास्त्र के अर्थ में लेना चाहिये। नीचे के और ऊपर के 'वस्तु' के निषेध के लिये 'दशम' शब्दका उपयोग किया गया है। वहां के वीस पाहुडों में शेष पाहुडों के निवारणार्थ 'तीसरे पाहुड' का ग्रहण किया गया है। वह तीसरा पाहुड किस नामका है? ऐसा पूछने पर 'पेज्ज पाहुड' यह नाम कहा।

'वहां यह कषाय-प्राभृत होता है' ऐसा कहने का अर्थ 'वहां उत्पन्न हुआ है' ऐसा लेना चाहिये। एकही में उत्पाद्य और उत्पादकभाव कैसे हो सकता है? नहीं।

---

१ आदर्श प्रति में 'वीसं' पाठ है।

मतस्तयोरेकत्वाविरोधात्। पेज्ज-दोस-पाहुडस्य पेज्ज-पाहुडमिदि सण्णा कथं जुज्जदे। वुच्चदे। दोसो पेज्जाविणाभावि त्ति वा, जीव-दव्व-दुवारेण तेसिमेयत्तमत्थि त्ति वा, पेज्ज-सद्दो पेज्ज-दोसाणं दोण्हं पि वाचओ सुप्पसिद्धो वा। णामेगदेसेण वि णामिल्ल-विसय-संपच्चओ सच्चभामा दि सुत्तेण पेज्जदोस-पाहुडस्स पेज्ज-पाहुड-सण्णा वि ण विरुज्झदे। एवमेदीए गाहाए कसाय-पाहुडस्स णामोवक्कमो चेव परूविदो। पाहुडम्मि दु त्ति एत्थतण दु-सद्देण पुण सेस-उवक्कमा सूचिदा देसामासिय-भावेण वा। संपहि गाहाए दोहि पयारेहि सूचिदसेसोवक्कमाणं परूवणट्ठं जइवसहाइरियो चुण्णिसुत्तं भणदि—

विरोधात्। पेज्ज-दोष-प्राभृतस्य पेज्ज-प्राभृतमिति संज्ञा कथं युज्यते? उच्यते। दोषः पेज्जाविनाभावीति वा, जीव-द्रव्य-द्वारेण तयोरेकत्वमस्तीति वा, पेज्ज शब्दः पेज्ज-दोषयो द्वयोरपि वाचकः सुप्रसिद्धो वा। नामैकदेशेनापि नामि-विषय-संप्रत्ययः सत्यभामेति सूत्रेण पेज्जदोष-प्राभृतस्य पेज्ज-प्राभृत-संज्ञापि न विरुध्यते। एवमेतस्यां गाथायां कषाय-प्राभृतस्य नामोपक्रमश्चैव प्ररूपितः। 'प्राभृते तु' इत्यत्रतन-तुशब्देन पुनः शेषोपक्रमाः सूचिताः, तेषामाश्रित-भावेन वा। सम्प्रति गाथायां द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां सूचित-शेषोपक्रमाणां प्ररूपणार्थं यतिवृषभाचार्यश्चूर्णिसूत्रं भणति—

उपसंहार्य से उपसंहारका किसी प्रकार भेद न पाये जाने से उनके एकत्व में विरोध नहीं आता। पेज्ज-दोष-पाहुड की 'पेज्ज-पाहुड' संज्ञा कैसे कर डाली? कहते हैं। दोष पेज्ज के बिना नहीं हो सकता इस कारण; या जीव द्रव्य द्वारा उनका एकत्व है इसलिए; या 'पेज्ज' शब्द पेज्ज और दोष दोनों अर्थों का वाचक सुप्रसिद्ध है; या नाम के एकदेश से भी नामधारी विषय की संप्रतीति (जानकारी) हो जाती है। 'सत्यभामा' आदि सूत्र से पेज्ज-दोष पाहुड की पेज्ज-पाहुड संज्ञा भी विरोधवाचक नहीं है। इस प्रकार इस गाथा में कषाय-प्राभृत का नामोपक्रमण बताया गया। 'पाहुड में तो' यहां तो शब्द से शेष उपक्रमों की सूचना दी गई है क्योंकि वे इसके आश्रित हैं।

अब गाथा में दो प्रकार से सूचित शेष उपक्रमों का निरूपण करने के लिये यतिवृषभाचार्य चूर्णिसूत्र कहते हैं—

---

१ आदर्श प्रति में 'विसयं' पाठ है।

णाणपवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तादियस्स पाहुडस्स पंचविहो उवक्कमो । तं जहा, आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि ॥ १ ॥

उपक्रम्यते समीपीक्रियते श्रोत्रा अनेन प्राभृतमित्युपक्रमः ।

ज्ञानप्रवादस्य पूर्वस्य दशमस्य वस्तुनस्तृतीयस्य प्राभृतस्य पंचविध उपक्रमः । तद्यथा, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाणं, वक्तव्यता, अर्थाधिकारश्चेति ॥ १ ॥

उपक्रम्यते समीपीक्रियते श्रोत्रा अनेन प्राभृतमित्युपक्रमः ।

ज्ञानप्रवाद पूर्व की दशम वस्तु के तृतीय पाहुड का उपक्रम पांच प्रकार का है, जैसे आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार ॥ १ ॥ श्रोता जिस साधन के द्वारा प्राभृत को अपने समीप करले, अर्थात् समझले, उसका नाम उपक्रम है।

प्रोफेसर हीरालाल द्वारा सम्पादित जैन साहित्य के
अद्वितीय ग्रंथ

---

१. **जैन-शिलालेख-संग्रह** (माणिकचंद्र ग्रन्थमाला नं. २८) २)

इसमें श्रवणबेलगोला (जैनबिद्री) के ५०० संस्कृत कानडी शिलालेखों का संग्रह हिन्दी में भावार्थ सहित है। एक विस्तृत भूमिका में लेखों का जैन व भारतीय इतिहास के लिये महत्व का पूरा परिचय है। भद्रबाहुस्वामी की दक्षिण यात्रा, गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा व राजवंशों और आचार्यों का खूब रोचक और उपयोगी वर्णन है। साथ में अनुक्रमणिकाएं भी हैं। जैन इतिहास के लिये अतीव उपयोगी है।

२. **णायकुमार-चरिउ** (नागकुमार चरित) देवेन्द्रकीर्ति ग्र. मा. १ ६)

यह महाकवि पुष्पदन्त द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचा हुआ बाईसवें कामदेव नागकुमार के चरित का बड़ा रोचक काव्य है। भाषा की दृष्टि से ग्रंथ बड़ा उपयोगी है। ये पुष्पदन्त संभवतः वे ही हिन्दी भाषा के आदि कवि हैं जिनका उल्लेख शिवसिंह सरोज के कर्ता ने पुष्प कवि के नाम से किया है। ग्रंथ में विस्तृत अंग्रेजी भूमिका, टिप्पणी, शब्दकोश व अनुक्रमणिकायें हैं। भूमिका में ग्रंथ का पूरा इतिहास व सार, नामों का परिचय, तथा भाषा का व्याकरण व काव्य के छन्दों आदि का पूरा परिचय दिया गया है। यह ग्रंथ नागपुर विश्वविद्यालय की बी. ए. (आनर्स) परीक्षा के लिये नियुक्त हो चुका है।

३. **सावयधम्म-दोहा** (श्रावकधर्म-दोहा)-कारंजा सीरीज नं. २ २॥)

यह देवसेन द्वारा रचित सुन्दर अपभ्रंश दोहों में श्रावकाचार का मनोहर ग्रंथ है। हिन्दी भूमिका, पूरा अनुवाद, टिप्पणी व अनुक्रमणिकाओं सहित है। नागपुर विश्वविद्यालय की एफ् ए परीक्षा के लिए नियुक्त हो चुका है।

४. **पाहुडदोहा**-कारंजा सीरीज नं ३ २॥)

यह मुनि रामसिंह द्वारा रचित अध्यात्म का ग्रंथ है। इसकी रचना भी अपभ्रंश दोहों में हुई है। योगीन्द्रदेव रचित परमात्मप्रकाश की कोटि का ग्रंथ है। भूमिका अनुवादादि सहित तैयार किया गया है।

५. **करकंड-चरिउ** (करकंडु चरित)-कारंजा सीरीज नं. ४ ६)

यह मुनि कनकामर द्वारा रचित अपभ्रंश भाषा का काव्य है। इसमें उन प्रत्येकबुद्ध करकंडु महाराज का चरित्र वर्णित है जिन्हें दिगम्बर व श्वेताम्बर जैनों के अतिरिक्त बौद्धों ने भी माना है, व जिनकी बनवाई हुई गुफाएँ दक्षिण के तेरापुर में अब भी वर्तमान हैं। वर्णन सहित उन गुफाओं के बारह चित्र भी साथ दिये गये हैं। भूमिका हिन्दी व अंग्रेजी में है जिसमें ग्रंथ का इतिहास व सार पूर्ण रूप से दिया गया है। पूरा अंग्रेजी अनुवाद भी है, अनुक्रमणिकायें व टिप्पणी भी हैं, तथा परिशिष्ट में श्वेताम्बर व बौद्ध कथाएं भी अनुवादसहित उद्धृत की गई हैं। ग्रंथ से दक्षिण के एक राजवंश की उत्पत्ति के सम्बंध में जो प्रकाश पड़ता है उसका भी भूमिका में पूर्ण विवेचन है। नागपुर विश्वविद्यालय के बी. ए. कोर्स में नियुक्त हो चुका है।

सरस्वती पावर प्रेस, उमरावती.